

धार्मिक मन उस मन से पूर्णतः भिन्न है जो धर्म में विश्वास रखता है। धार्मिक मन समाज की संस्कृति से मनोवैज्ञानिक स्तर पर स्वतंत्र होता है; यह विश्वास के किसी भी रूप, अनुभव या स्व-अभिव्यक्ति की किसी प्रकार की मांग से भी मुक्त होता है और मनुष्य ने, मुझे ऐसा लगता है, युगों-युगों से, विश्वास के द्वारा एक अवधारणा निर्मित की है जिसे ईश्वर कहा जाता है। मनुष्य के लिए ईश्वर नामक उस अवधारणा में विश्वास करना आवश्यक बन गया है, क्योंकि वह पाता है कि जीवन एक दुखद प्रसंग है, निरंतर संग्राम, दंड, दुर्दशा का सिलसिला, जिसमें कभी-कभार प्रकाश, सौंदर्य व उल्लास की चिंगारी दमक उठती है।

किसी अवधारणा, किसी सूत्र, किसी विचार में विश्वास आवश्यक बन गया है, क्योंकि जीवन का अर्थ तो न के बराबर रह गया है। वही नित्यचर्या, दफ्तर जाना, परिवार, यौन-संबंध, बोझिलता, अपने आपको अभिव्यक्त करने का दंड--इन सबका कुछ अर्थ नहीं है, और इस सबके अंत में हमेशा मृत्यु है; अतः विश्वास करना मनुष्य के लिए जैसे अनिवार्य आवश्यकता बन गया है।

किसी स्थान-विशेष की जलवायु के अनुसार, इन विचारों और सूत्रों के आविष्कारकों की बौद्धिक सामर्थ्य के अनुरूप, ईश्वर, उद्धारक, दिव्यात्मा की अवधारणा आकार लेती रही है और इसके द्वारा मनुष्य परमानंद की अवस्था, सत्य, कभी विचलित न होने वाली मनोदशा के यथार्थ तक पहुंचने का हमेशा प्रयास करता रहा है। इस प्रकार उसने एक लक्ष्य को मान्य कर लिया है और उसके प्रयत्न उसी दिशा में रहे हैं। इन विचारों और अवधारणाओं के रचयिता कोई न कोई व्यवस्था या मार्ग निर्धारित कर गए हैं, जिसका उस परम यथार्थ तक पहुंचने के लिए अनुसरण करना होगा। और मनुष्य ने अपने मन को सताया है--अनुशासन के द्वारा, नियंत्रण के द्वारा, आत्म-दमन के द्वारा, संयम और तप के द्वारा--और उस यथार्थ तक पहुंचने के वह अलग-अलग रास्ते ईजाद करता रहा है। एशिया में उस यथार्थ तक ले जाने वाले बहुत से (तथाकथित) मार्ग हैं, जो रुझानों और परिस्थितियों के हिसाब से बने हैं और इन मार्गों का अनुसरण उस यथार्थ तक पहुंचा देगा जिसका मापन मनुष्य द्वारा, विचार द्वारा किया जाना संभव नहीं है। पश्चिम में केवल एक ही उद्धारक है और केवल उसी के माध्यम से परम को उपलब्ध किया जा सकता है//सकेगा। पूर्व और पश्चिम की सभी व्यवस्थाओं में सतत नियंत्रण पुरोहितों और धर्मग्रंथों द्वारा, जो हिंसा का सारतत्त्व हैं ऐसी बातों द्वारा बनाए गए ढांचे में लगातार मन को तोड़-मरोड़ कर बिठाया जाना निहित है ताकि वह उसी के हिसाब से चले। वह हिंसा न केवल यौनसुख के त्याग में है अपितु हर प्रकार की इच्छा, हर तरह की सुंदरता के नकार में, निग्रह में, किसी पूर्वनिर्धारित ढांचे के अनुरूप बनने में भी है।

वे कुछ तरह के चमत्कार करते रहे हैं--किंतु चमत्कार कर लेना तो सबसे आसान बातों में से एक है, चाहे वह पश्चिम में हो या पूर्व में। और जिन्होंने ये चमत्कारी शक्तियां प्राप्त कर ली हैं, उन्हें संतों के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया जाता है; उन्होंने इस दिशा में कीर्तिमान स्थापित कर लिए हैं कि वे पूरी तरह उस ढांचे के अनुरूप बन चुके हैं, वह ढांचा ही उनके रोज़ के जीवन में प्रकट हो रहा है। उनमें विनम्रता तो है ही नहीं--क्योंकि विनम्रता का बाहर से दिखावा नहीं हो सकता, लंगोटी या चोगा धारण कर लेना विनम्रता का सूचक कतई नहीं है। किसी भी अन्य सद्गुण की तरह, विनम्रता तो क्षण-प्रति-क्षण होती है, इसे हिसाब लगा कर किसी निर्धारित ढांचे के रूप में स्थापित नहीं किया जा सकता, जिसका अनुसरण होता रहे। किंतु मनुष्य युगों-युगों से यही करता आया है; किसी मूल प्रवर्तक ने यथार्थ कहा जाने वाला कोई अनुभव कर लेने के उपरांत किसी प्रकार की व्यवस्था, विधि, मार्ग का प्रतिपादन कर दिया और बाकी दुनिया उसका अनुसरण करने लगी। उसके शिष्यों ने चतुर प्रचार के माध्यम से, मनुष्य के मन को दास बना लेने के धूर्त तरीकों के द्वारा धर्मस्थलों, मतवादों और कर्मकांडों की स्थापना कर ली। और मनुष्य उस सबमें फंसा हुआ है। और हर उस मनुष्य को, जो भी उसे पाना चाहता है जिसकी तलाश मन को सदा से रही है, उसको

उस परम सौंदर्य तक पहुंचने के लिए किसी न किसी तरह की तोड़-मरोड़, दमन, किसी न किसी यातना से गुजरना ही पड़ेगा, ऐसा मान लिया जाता है।

और इस तरह, बौद्धिक रूप से इस सबका बेतुकापन तो दिखता है, बौद्धिक व शाब्दिक स्तर पर विश्वासमात्र की व्यर्थता, किसी भी विचारधारा की मूढ़ता नजर आती है। बुद्धिगत स्तर पर मन इस सबको बकवास कह कर परे फेंक सकता है। लेकिन अंदरूनी तौर पर कहीं गहरे में यह तलाश हमेशा बनी रहती है जो कर्मकांडों के, रूढ़ियों के, विश्वासों के, उद्धारकों से परे है, जो उन सब प्रणालियों से परे है जिन्हें ज़ाहिर तौर पर मनुष्य ने ही ईजाद किया है। व्यक्ति यह देख पाता है कि उसके उद्धारक, उसके ईश्वर, आविष्कार, कल्पना भर हैं और इन्हें अपेक्षाकृत सरलता से अमान्य किया जा सकता है, और आधुनिक मनुष्य ऐसा कर भी रहा है। (मुझे नहीं मालूम कि हम आधुनिक शब्द क्यों प्रयुक्त करते हैं--मनुष्य तो पीढ़ी-दर-पीढ़ी वैसा ही रहा है जैसा कि वह आज है। पर आज का माहौल कुछ ऐसा है कि वह पुरोहित, विश्वास, धार्मिक रूढ़ियों के सत्ता-प्रामाण्य की अवधारणा को ही सिरे से नकार रहा है; उसके लिए, ईश्वर मर गया है, उसकी जवान मौत हुई है।) अब चूंकि न ईश्वर है, न विश्वास है, तो ठेठ दैहिक सुख, भौतिक संतुष्टि और विकसित समाज की अवधारणा ही शेष रही है; मनुष्य केवल आज के लिए जी रहा है, उसने समस्त धार्मिक संकल्पना को नकार दिया है।

शुरुआत किसी भी संगठित धर्म के बाह्य ईश्वरों को उनके पुरोहितों सहित नकार देने से होती है इन्हें पूरी तरह से नकारा जाना जरूरी है क्योंकि इनकी कोई उपयोगिता नहीं है, इन्होंने युद्धों को जन्म दिया है, लोगों को बांटा है फिर चाहे वह यहूदी धर्म हो, हिंदू धर्म हो, ईसाई धर्म हो या इस्लाम हो--इन सबने मनुष्य को विनष्ट किया है, उसे विभाजित किया है, ये युद्ध और हिंसा के प्रमुख कारणों में से एक हैं। यह सब देख कर व्यक्ति इसे नकार देता है, इसे बचकाना और अपरिपक्व समझते हुए एक तरफ हटा देता है। बौद्धिक रूप से यह बहुत आसानी से किया जा सकता है--इस संसार में रहते हुए, गिरजों की, मंदिरों की शोषक पद्धतियों को देखते हुए, इन्हें नकारने के अलावा कोई कर ही क्या सकता है? किंतु मनोवैज्ञानिक स्तर पर विश्वास से, तलाश करने से मुक्त हो पाना अपेक्षाकृत बहुत अधिक कठिन है। हम सब ऐसा कुछ खोज लेना चाहते हैं जो मनुष्य द्वारा अनछुआ, धूर्त विचार से अछूता हो; कुछ ऐसा जो सामुदायिक बुद्धिवादी या सांस्कृतिक समाज द्वारा दूषित न हो, जिसे तर्क ध्वस्त न कर सके। हम सब, कहीं गहरे में, इसे ढूंढते हैं, क्योंकि यह जीवन तो एक कष्टसाध्य उपक्रम, एक संग्राम, एक दुर्गति, एक लगी-बंधी दिनचर्या बन कर रह गया है। किसी में स्वयं को शब्दों में, या चित्र बनाकर, या शिल्प रच कर अथवा संगीत के माध्यम से अभिव्यक्त करने की क्षमता हो सकती है, लेकिन वह भी निस्सार हो जाता है। ज़िंदगी जैसी कि यह अब है, बिल्कुल खाली-खाली है और हम इसे संगीत और साहित्य से, मनोविनोद से, मनोरंजन से, विचारों तथा जानकारी से भरने का प्रयास करते हैं, लेकिन जब कोई इस संबंध में थोड़ा विस्तार में जाता है, तो उसे पता चलता है कि व्यक्ति कितना खोखला है, उसका पूरा का पूरा अस्तित्व कितना छिछला है--किसी के पास चाहे जितनी उपाधियां, संपदाएं और क्षमताएं क्यों न हों।

जीवन थोथा है, और इसका एहसास हो जाने पर, हम इसे भर लेना चाहते हैं, हम ढूंढते रहते हैं--न सिर्फ इस खालीपन को भरने के तरीके और साधन तलाशते रहते हैं बल्कि ऐसा भी कुछ खोज लेना चाहते हैं जिसकी थाह मनुष्य नहीं पा सकता है। कुछ लोग तो मादक द्रव्य लेने लगते हैं, वे एल. एस. डी. या चेतना के विस्तार का आभास देने वाले विभ्रमकारी द्रव्यों के विविध प्रकारों में से कुछ न कुछ ले लेते हैं और उस दशा में व्यक्ति को कुछ खास तरह की अवस्थाएं उपलब्ध या अनुभूत होती हैं क्योंकि मस्तिष्क में

एक किस्म की संवेदनक्षमता का संचार हो जाता है। लेकिन ये सब रासायनिक परिणाम होते हैं, विजातीय बाह्य कारकों द्वारा लाए गए प्रभाव होते हैं। व्यक्ति इसी आस में ये मादक द्रव्य लेता है, तब भीतर उसे ये अनुभव होते हैं, ठीक वैसे ही जिस प्रकार किसी के कुछ विश्वास होते हैं और उन्हीं विश्वासों के अनुरूप उसे अनुभव होते हैं। ये मिलती-जुलती प्रक्रियाएं ही हैं, दोनों ही एक सा अनुभव लाती हैं तो भी मनुष्य विश्वास में पुनः खो जाता है। विश्वास के मादक द्रव्य में या फिर किसी रासायनिक मादक द्रव्य के विश्वास में वह अपरिहार्य रूप से अपने विचारों का बंदी बना रहता है। और जब कोई यह सब स्पष्टता से देख लेता है तो इसे परे हटा देता है--तात्पर्य यह कि वह किसी भी विश्वास से पूर्णतः मुक्त हो जाता है। इसका यह अर्थ नहीं कि वह अज्ञेयवादी बन जाता है अथवा दोषदर्शी या कटु हो जाता है। बल्कि होता यह है कि आप देखते हैं कि विश्वास की प्रकृति क्या है और क्यों वह असाधारण रूप से महत्त्वपूर्ण बन गया है; इसलिए बन गया है क्योंकि हम डरे हुए हैं--मूल कारण यही है। भय, न केवल जीवन में रोज-रोज़ पिसते रहने का भय, कुछ-न-कुछ न बन पाने का भय--इस सबमें अत्यधिक भय निर्मित होता है और व्यक्ति इसे बर्दाश्त करने लग जाता है--बल्कि इसी भय के चलते विश्वास इतना महत्त्वपूर्ण बन गया है। जिंदगी के तमाम खालीपन को साफ देख पाने पर भी विश्वास को हम पकड़े रहते हैं--यद्यपि कोई विश्वास की बाह्य सत्ता को त्याग सकता है, संसार भर में पुरोहितों द्वारा आविष्कृत विश्वासों को छोड़ सकता है, लेकिन उस असाधारण तत्त्व को पा लेने, उस तक पहुंचने के लिए, जिसे मनुष्य निरंतर, जाने कब से खोजता आ रहा है, वह खुद ही अपने विश्वास गढ़ लेता है।

इस तरह, तलाश जारी रहती है। इस तलाश की प्रकृति, इसकी संरचना एकदम स्पष्ट है। व्यक्ति आखिर यह तलाश करता ही क्यों है? अनिवार्यतः इसके पीछे स्वार्थ ही है, प्रबुद्ध स्वार्थ सही, किंतु है तो स्वार्थ ही। क्योंकि व्यक्ति कहता है “जीवन बहुत दिखावटी, खोखला, उबाऊ, मूढ़तापूर्ण है, इससे हट कर कुछ और भी होना तो चाहिए, तो मैं उस मंदिर में या उस चर्च में या फलों जगह जाऊंगा....” और तब वह उस सब को भी छोड़ देता है और गहराई से खोज शुरू करता है। लेकिन यह खोज, यह तलाश किसी भी रूप में हो, मनोवैज्ञानिक रूप से एक बाधा बन जाती है। मुझे लगता है कि यह बात बहुत सीधे और स्पष्ट तौर पर समझ लेनी चाहिए। वस्तुनिष्ठ रूप से कोई किसी बाह्य माध्यम की सत्ता को नकार सकता है जो अंतिम सत्य तक पहुंचा देने का दावा कर रही हो, उसे तो व्यक्ति छोड़ता ही है। लेकिन ढूंढने की प्रकृति क्या है, इसे समझ कर फिर छोड़ना, सारी तलाश का ही परित्याग करना अनिवार्य है, क्योंकि व्यक्ति पूछता है कि वह तलाश क्या कर रहा है? यदि आप इसकी जांच करें कि वह है क्या जिसे हम ढूंढने में लगे हैं, हम चाहते क्या हैं, तो क्या उस तलाश में यह निहित नहीं है कि कुछ ऐसा है जिसे आप पहले से जानते हैं, जो आपने खो दिया है और अब आप उसे ढूंढ लेना चाहते हैं? यह तलाश के निहितार्थों में से एक है। तलाश में पहचान की प्रक्रिया शामिल होती है--अर्थात् तलाश करने पर आपको जो मिलता है, वह जो कुछ भी हो, आपको उसे पहचान लेने में सक्षम होना चाहिए, अन्यथा तलाश का कोई अर्थ नहीं है। व्यक्ति कुछ ढूंढता है, आशा करता है कि इसे पा लेगा और पा लेने पर पहचान जाएगा, लेकिन यह पहचान स्मृति की ही क्रिया है; अतएव इसमें यह बात निहित है कि आप पहले से उसे जानते हैं, आप पहले से ही उसकी एक झलक पा चुके हैं; या आप सभी संगठित धर्मों के भारी प्रचार से सघन रूप से संस्कारित हैं और इसलिए आपने उस अवस्था में स्वयं को सम्मोहित कर लिया है। तो जब आप तलाश रहे हैं तो पहले से ही आपकी एक अवधारणा है, एक ख्याल है कि आप क्या तलाश रहे हैं; और जब उसे आप पा लेते हैं तो मतलब यह होता है कि आप उसे जानते ही थे, अन्यथा आप उसे पहचान कैसे पाते? इस कारण से, वह सत्य है ही नहीं।

अतः आवश्यकता मन की उस स्थिति को पाने की है, जो सारी तलाश, समस्त विश्वास से मुक्त हो--बिना कटु हुए, बिना अवरुद्ध हुए। क्योंकि हमारी सोच का रुझान यह होता है कि यदि हम निरंतर खोजेंगे नहीं, प्रयत्न नहीं करेंगे, संघर्ष नहीं करेंगे, पीछे नहीं पड़ेंगे, तो मुरझा जाएंगे, बिखर जाएंगे। मुझे नहीं मालूम कि हमें मुरझाना क्यों नहीं चाहिए--जैसे कि अब हम न मुरझा रहे हों। व्यक्ति मुरझाता ही है, जब वह मरता है, जब वह बूढ़ा होता जाता है, जब भौतिक देह का अवसान होता है। हमारा जीवन ही मुरझाने की प्रक्रिया है, क्योंकि इसमें रोज़ के जीवन में हम अनुकरण करते हैं, नकल करते हैं, पीछे चलते हैं, आज्ञा मानते हैं, जो मुरझाने के ही ढंग हैं अतः जो अब विश्वास के किसी रूप में, किसी स्व-निर्मित विश्वास में नहीं फंसा हुआ है, ढूँढने में नहीं लगा है, जो कुछ भी तलाश नहीं कर रहा है--हालांकि यह बात कुछ अधिक मुश्किल है--ऐसा मन अत्यधिक जीवंत होता है। सत्य तो क्षण-प्रतिक्षण है, सदाचार की तरह, सौंदर्य की तरह; यह कुछ ऐसा है जिसमें निरंतरता नहीं होती। जिसमें निरंतरता है, वह तो समय की उपज है, और समय विचार है।

यह देखते हुए कि मनुष्य ने अपने साथ क्या-क्या किया है, कैसे उसने स्वयं को यातनाएं दी हैं, कठोर बनाया है--राष्ट्रवादी बनकर, मनोरंजन के किसी भी रूप में अपने आपको भुलाकर, चाहे साहित्य हो अथवा इस या उस तरह से--अपने जीवन के इस सारे ढर्रे को देखते हुए वह स्वयं से पूछता है, क्या इस सबसे होकर उसे गुजरना ही होगा? आप इस प्रश्न को समझ रहे हैं? क्या मनुष्य के लिए इस प्रक्रिया से कदम-दर-कदम गुजरना जरूरी है--पहले तो विश्वास को छोड़ना (यदि आप जरा भी सतर्क हैं) फिर किसी भी तरह की तलाश को छोड़ देना, मन को यातना देना बंद करना, अतिसेवन का त्याग--यह देखते हुए कि मनुष्य ने जिसे वह यथार्थ कहता है उसे पाने के लिए अपने साथ क्या-क्या किया है, व्यक्ति पूछता है (कृपया स्वयं से पूछें, न कि मुझसे) वह पूछता है कि क्या कोई ऐसा तरीका है, या ऐसी कोई अंतर्विस्फोट की, प्रस्फुटन की स्थिति है, जो एक ही दम में वह सारा कुछ परे हटा दे? क्योंकि समय कोई हल नहीं है।

तलाश में समय निहित है, उसमें आखिरकार पा ही लेने वाली बात है शायद दस साल लगे--या ज़्यादा भी या फिर जन्मों-जन्मों से गुजरते हुए अंततः उपलब्धि हो, जैसा कि पूरे एशिया का विश्वास है। इस सबसे समय निहित है, जो भी अंतर्द्वंद्व हैं, समस्याएं हैं, उन्हें क्रमशः दूर करते जाना, अधिक चतुर अधिक बुद्धिमान बनते जाना, धीरे-धीरे जानकारी-परिचय बढ़ाना, धीरे-धीरे, क्रमशः, मन को संस्काररहित करना। यह सभी कुछ समय में निहित है। और यह बात स्पष्ट ही है कि समय तो मार्ग नहीं है, न ही विश्वास, न ही किसी प्रणाली, किसी गुरु, किसी शिक्षक, किसी दार्शनिक, किसी पुरोहित द्वारा थोपे गए कृत्रिम अनुशासन--यह सब कुछ तो बहुत ही बचकाना है। तो क्या यह संभव है कि व्यक्ति इन सबसे होकर कतई न गुजरे और तो भी उस असाधारण तत्त्व के समक्ष हो? क्योंकि उस तत्त्व को आमंत्रित तो किया जा नहीं सकता।

कृपया इस सीधे-सरल तथ्य को समझ लें; उसे निमंत्रित नहीं किया जा सकता, ढूँढ़ा नहीं जा सकता, क्योंकि उस असीम, अनंत को इस लघु-गृह में, इस छोटे-से कमरे में, भले ही यह साफ-सुथरा हो, आमंत्रित नहीं किया जा सकता है क्योंकि हमारा मन अत्यंत मूढ़ है, क्षुद्र है, हमारी भावनाएं बिल्कुल निम्न-स्तरीय हैं, जीने के हमारे ढंग एकदम दिग्भ्रमित हैं। उसे आमंत्रित नहीं कर सकते हैं--आमंत्रित करना हो तो आपके लिए इसको जानना जरूरी है, और आप इसे जान नहीं सकते हैं, (चाहे कोई भी ऐसा कहता रहे,) क्योंकि जिस क्षण आप कहते हैं, "मैं जानता हूँ" आप नहीं जानते हैं। जैसे ही आप कहते हैं कि आपने इसे पा लिया है, आपने इसे नहीं पाया होता है। यदि आप कहते हैं कि आपने इसका अनुभव

कर लिया है, आपने कभी इसका अनुभव नहीं किया है। ये सब तो दूसरे का शोषण करने के धूर्त तरीके हैं--चाहे वह दूसरा व्यक्ति आपका मित्र हो या शत्रु।

यह सब देखते हुए--औपचारिक तौर पर नहीं, अपितु प्रतिदिन के जीवन में, अपनी दैनंदिन गतिविधियों में, जब आप लेखनी उठाते हैं, जब बातें करते हैं, जब सैर-सवारी के लिए बाहर जाते हैं, जब बागों में अकेले टहल रहे होते हैं--इस सबको एक ही नजर में देख कर, इसके लिए कई ग्रंथ पढ़ने की दरकार नहीं है, आप एक ही दृष्टि में एकदम सारी बात समझ सकते हैं। और वस्तुतः आप इसे समग्रता में केवल तभी समझ पाते हैं जब आप स्वयं को जानने लगते हैं, जैसे आप हैं ठीक वैसा ही स्वयं को जानते हैं, सीधे तौर पर समग्र मनुष्य के परिणाम के रूप में, फिर चाहे आप हिंदू हों, मुसलमान हों, ईसाई हों या कुछ और हों। तभी ऐसा होता है, तब आप मनुष्य के प्रयत्नों, उसके छलावों, उसके पाखंडों, उसकी पाशविकता, उसकी तलाश की सारी-की-सारी बनावट को समझ लेते हैं।

और व्यक्ति यह पूछता है, क्या बिना इसे आमंत्रित किए, बिना इसकी प्रतीक्षा किए, बिना ढूंढे, बिना खोजे इसे समझ पाना संभव है? कि बस यह हो जाए जैसे आपने खिड़की खुली रखी हो और शीतल बयार आ जाए; आप उस बयार को बुलावा नहीं दे सकते, पर आपको खिड़की तो खुली रखनी ही होती है। इसका यह मतलब नहीं है कि हम प्रतीक्षा की अवस्था में होते हैं, वह तो धोखे का ही एक और रूप है; इसका यह भी अर्थ नहीं है कि उसकी उपलब्धि के लिए भीतर एक खुलापन निर्मित करना चाहिए, वह भी तो विचार का ही एक अन्य प्रकार हुआ।

लेकिन यदि तलाश में लगे बिना, विश्वास का सहारा लिए बिना, किसी ने स्वयं से यह पूछा है, तो यह पूछना ही खोज लेना है। पर हम पूछते नहीं हैं। हम चाहते हैं कि हमें बस बता दिया जाए, हमें हर बात संपुष्ट व प्रमाणित चाहिए। मूलभूत रूप से, भीतर गहरे में, हम हर प्रकार के बाह्य अथवा आंतरिक सत्ता-प्रामाण्य से कभी मुक्त होते ही नहीं हैं। यह हमारे मानस की संरचना के सर्वाधिक विचित्र लक्षणों में से एक है कि हम सभी चाहते हैं कि हमें बताया जाए; जो कुछ हमें बताया गया है हम उसी के परिणाम हैं। हमें जो बताया गया है वह हजारों सालों का प्रचार है। किसी प्राचीन ग्रंथ को या किसी वर्तमान अगुआ को या फिर वक्ता को प्रमाण मान लिया जाता है। किंतु यदि वस्तुतः, भीतर गहरे में, कोई समस्त सत्ता-प्रामाण्य को नकार देता है, तो उसका अर्थ यह होता है कि अब उसमें भय नहीं है। भय को देखना ही अभय है, क्योंकि सुख की तरह ही भय से भी हमारा कभी प्रत्यक्ष संपर्क नहीं होता, वास्तव में हम कभी भी भय के सीधे संपर्क में नहीं आते हैं, जिस तरह से आप किसी दरवाजे को, हाथ को, वृक्ष को छूते हुए उसके संपर्क में होते हैं। भय से हमारा संपर्क, केवल भय की प्रतिमा के माध्यम से होता है, जो हमने स्वतः बनाई है। हम सुख को केवल अर्धसुखों के माध्यम से जानते हैं। हम कभी भी किसी चीज़ के साथ प्रत्यक्ष संपर्क में नहीं होते। मुझे नहीं मालूम कि कभी आपने ध्यान दिया है कि जब आप एक वृक्ष को छूते हैं, जैसा कि आप झुरमुट में टहलते हुए करते हैं--तो क्या आप उस वृक्ष को वस्तुतः छू रहे होते हैं? या आपके और उस पेड़ के बीच कोई आवरण बना रहता है, हालांकि आप उसे छू रहे होते हैं। इसी तरह से भय के सीधे संपर्क में आने के लिए उसकी कोई प्रतिमा, कोई छवि नहीं होनी चाहिए, जिसका अर्थ है कि वास्तव में कल के भय की कोई स्मृति ही नहीं होनी चाहिए। तभी तो आप आज के वास्तविक भय के वास्तविक संपर्क में आ पाते हैं। तब, यदि कल के भय की कोई स्मृति नहीं है, तो आपके पास इस क्षण के भय के साक्षात् हेतु ऊर्जा होती है, और वर्तमान से संपर्क के लिए आपके पास अत्यधिक ऊर्जा होनी आवश्यक है। हम इस जीवंत ऊर्जा को, जो हम सभी में होती है, किसी छवि, किसी सूत्र, किसी सत्ता-प्रामाण्य में बरबाद करते रहते हैं और ऐसा ही हम सुख की खोज में लगे रहकर किया करते हैं।

सुख की दौड़ हमारे लिए बहुत महत्वपूर्ण होती है, और ऐसा माना जाता है कि सबसे बड़ा सुख ईश्वर है--और हो सकता है कि वह आपके संज्ञान में आने वाला भीषणतम तत्त्व हो पर हमने इसकी, परमतत्त्व की एक कल्पना कर रखी है, अतएव इस तक हम कभी नहीं आ पाते। यह ठीक उसी तरह है जैसे आप किसी सुख को कल भोगे सुख के रूप में पहले से ही पहचान रहे हों, और तब आप उस घटित होते अनुभव के, उस घटित होती अवस्था के वास्तविक संपर्क में कभी होते ही नहीं हैं। वह केवल कल की ही स्मृति होती है, जो वर्तमान को आवृत्त किए रहती है, ढके रहती है।

तो यह सब देखते हुए, क्या यह संभव है कि हम कुछ करें नहीं, प्रयत्न न करें, ढूँढ़ें नहीं--बिना कोई क्रिया किए, पूर्ण निषेध में हों, पूरी तरह रिक्त हों--क्योंकि समस्त क्रिया धारणा-प्रवृत्ति का परिणाम है। यदि आपने कुछ करते समय स्वयं का अवलोकन किया हो, तो आपने देखा होगा कि वह किसी पूर्वविचार, किसी पूर्वधारणा, किसी पूर्वस्मृति के कारण ही घटित होता है। उस विचार तथा उस क्रिया के बीच एक विभाजन होता है--एक अंतराल होता है--वह चाहे जितना लघु, चाहे जितना सूक्ष्म हो--और उस विभाजन के चलते द्वंद्व होता है। तो क्या मन पूरी तरह से खामोश हो सकता है कि वह न सोच रहा हो, न भयभीत हो, और इसलिए असाधारण रूप से सजीव व उत्कट हो?

आप जानते हैं कि उत्कटता का, आवेग का, अंग्रेजी समानार्थी शब्द 'पैशन' कई बार दुःख-भोग के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है; ईसाइयों ने उस शब्द का प्रयोग दुःख-भोग के किन्हीं विशिष्ट रूपों को प्रतीक प्रदान करने हेतु किया है। हम इस शब्द का उन अर्थों में प्रयोग बिल्कुल नहीं कर रहे हैं। पूर्ण निषेध की इस अवस्था में उच्चतम प्रकार का आवेग होता है तथा उस आवेग में स्व को पूरी तरह से छोड़ दिया जाना निहित है। इस प्रकार के संपूर्ण स्व-परित्याग हेतु विराट संयम की आवश्यकता है; ऐसा संयम, जो लोगों को सता रहे किसी पुरोहित की कठोरता नहीं है, उन संतों का संयम नहीं जिन्होंने स्वयं को यातनाएं दी हैं, जो संयमी बने बैठे हैं क्योंकि अपने मन को उन्होंने नृशंस बना लिया है। संयम तो एक अद्भुत सादगी है, कपड़ों और खाने-पीने की सादगी नहीं, अपितु एक आंतरिक सादापन। ऐसा संयम, ऐसा आवेग संपूर्ण निषेध का सर्वोत्तम प्रकार है। और संभवतः तब, यदि आप सौभाग्यशाली हैं--भाग्य की वहां कोई भूमिका रहती नहीं--उस सत्त्व का, अनामंत्रित, बिना किसी बुलावे के आविर्भाव होता है। तब मन का प्रयत्नों में लगे रहने का सामर्थ्य समाप्त हो चुका होता है। उस स्थिति में, आप जो चाहेंगे, करेंगे, क्योंकि तब प्रेम विद्यमान होगा।

ऐसा धार्मिक मन न हो, तो सच्चे समाज का सर्जन हो नहीं सकता है। और सच्चे समाज का सर्जन हमें करना ही होगा, जिसमें स्वार्थ की इस डरावनी गतिविधि के लिए कम-से-कम जगह हो। केवल ऐसे धार्मिक मन की उपस्थिति में ही शांति संभव है, बाह्य रूप से भी, अंतस् में भी।

पेरिस] 30 अप्रैल 1967